श्रीमद्भगवत्गीता में कर्म-व्यावहारिक प्रेरक तत्त्व

डॉ0 कमला पन्त*

सारांश

श्रीमद्भगवत्गीता का अध्यात्मपक्ष और व्यवहारपक्ष अनुपम एवं संतुलित है। इसके प्रतिपाद्य विषय को व्याख्यायित करते हुए आचार्य शंकर ने इसमें ज्ञानयोग, रामानुज ने भक्तियोग, तिलक ने कर्मयोग और ज्ञानदेव ने राजयोग देखा है। भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों अलग अलग और सम्मिलित दोनों रूपों से मानव को चिन्तन का आधार देते हैं। आम धारणा है कि दार्शनिक रूचि या गीता का अध्ययन करने वाला सांसारिक जीवन से विमुख हो जाता है। व्यक्ति को निरन्तर संघर्ष करने और विराग भाव से निरन्तर कर्म की ओर प्रेरित करने वाला 'गीता' में सक्रियता का निषेध करना जैसे गीता के प्राण भाव का अस्तित्व ही नकारना है। प्रस्तुत लेख में गीता के कर्मवाद पर संक्षिप्त विश्लेषणपरक प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

मुख्य शब्द– गीता, प्राणी, कर्म, श्रीकृष्ण।

प्रस्तावना

वस्तुतः गीता का प्रारम्भ ही किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन को कर्मार्थ प्रेरित करने से होता है।[1] तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। गीता 2/50। कर्त्तव्याकर्तव्य और उचित अनुचित का संशय जीवन में प्रायः अनेक बार आ ही जाता है। अनुचित होते देखने पर क्या सज्जन निष्क्रिय होकर बैठ जायें? अपने हिस्से की नैतिकता का पालन करते रहें? विरोध न होने की स्थिति में तो असामाजिक तत्त्व समाज पर हावी हो जायेंगे। दुष्टों के संरक्षण के लिए अहिंसादि नैतिक नियमों का विधान नहीं है अपितु निरपराध को पीड़ा न देने एवं समाज में सुख–शान्ति, धर्म की रक्षा हेतु नैतिक उपदेशों का विधान है। श्रीकृष्ण अर्जुन को उचितानुचित समझाकर मोह–मुक्त करते हैं।[2] अत्याचारी चाहे कितने भी प्रिय क्यों न हो, समझाने या चेतावनी देने पर भी न मानें तो लोकहित में उनका वध सर्वथा उचित है।[3] संसारत्यागी भीरू या कायर निष्क्रियों को नहीं अपितु महान कार्यकर्त्ता, युग दृष्टा लोगों को ऐसी समस्याओं का सामना करना ही पड़ता है। इस तरह गीता का तत्त्वज्ञान शरीर स्तर से नहीं अपितु बौद्धिक स्तर से प्रारम्भ होता है और उसकी सारी साधनाएँ विशुद्ध बुद्धि से ही सम्बन्धित हैं।

कर्म है क्या? यह 'कृ' धातु से बना है। कर्तुरीप्सिततमं कर्म (पाणिनिसूत्र–कारक–प्रकरण)– कर्ता जिसे सबसे अधिक चाहता है, वही कर्म है, करना, व्यापार, हलचल[4]..... चाहे वह बौद्धिक, मानसिक शारीरिक, वाचिक[5] कुछ भी हो सामान्यतः संसार में कायिक चेष्टाओं को ही (स्थूलरूपेण) कर्म कहा जाता है। कोई भी प्राणी एक पल भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता (गीता 3/5)। मन–वचन–काया तीनों से युक्त प्राणी कर्मरहित कैसे हो सकता है? कर्म करना प्राणी की विवशता है। सत–रज–तमोमय प्रकृति से निर्माण होने से वही उसे कर्म करने के लिए बाध्य करती है। जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य–योग, मीमांसा वेदान्तादि दर्शनों ने अपने–अपने सिद्धान्तों के अनुसार कर्म की परिभाषा और भेद बताए हैं। जैन, बौद्ध, न्याय–वैशेषिक आदि सभी विचारकों ने देहेन्द्रिय, सुख–दुःख और विविध योनियों में जन्मादि रूप बन्ध का कारण काममूलक कर्म माना है।[6] कृत सकाम कर्म अनिवार्यतः फलदायी होते हैं चाहे वे स्वयं फल दें या ईश्वर अपूर्व, अदृष्ट और धर्माधर्म के माध्यम से फलित हों।[7] कर्मशास्त्र या पूर्वमीमांसा के मत में वेद का कर्मकाण्ड अंश ही सार्थक है– "कर्मेति मीमांसकाः।" उनकी दृष्टि में कर्मयज्ञ का अर्थ है– 'देवतोद्देशेन द्रव्य त्याग'– देवविशेष हेतु हविव्यादि द्रव्य का समर्पण।[8] गीता ने यज्ञ का यह संकुचित अर्थ नहीं लिया है। वह यज्ञचक्र की उपादेयता को स्वीकार करती है। इस चक्र में अन्न से लेकर ब्रह्म तक सब पदार्थ अनुस्युत हैं। निःस्वार्थ बुद्धि से किए परमात्मा की ओर ले जाने वाले समस्त कर्म यज्ञ ही होते हैं।[9]

कर्म के अनेकानेक भेद होने पर भी आन्तरिक रूप से मात्र दो ही भेद हैं– सकाम और निष्काम। कर्म के पीछे निहित भावना का सर्वाधिक महत्त्व है। लोभ, राग द्वेष, मान माया, कषाय, वासना, आसक्ति, स्वार्थ, तृष्णा आदि भाव ही दुःख के मूल हैं।[10] 'कर्म हेतुः काम स्यात्'। काम, फल की आशा या निराशा से विरक्त, निःस्वार्थ भाव से किए कर्म निष्काम कहलाते हैं। इसे कर्म के पीछे निहित प्रेरणा, बुद्धि, भाव या संकल्प कहा जा सकता है। फलाकांक्षा की दृष्टि से न किए गए कर्म बन्धनजनक नहीं होते।[11] शुभ भावना और परहित की उच्च भावना के साथ फल त्याग का उच्च विचार निषेधात्मक कर्मों से व्यक्ति को अपने आप ही बचाता है। सामान्य कर्म कर्मयोग बने, इसके लिए फलाकांक्षा का, कर्तृव्याभिमान का त्याग और ईश्वर्रापण तीनों आवश्यक हैं। गीता की दृष्टि में यही वास्तविक सन्यास और कर्म में कुशलता अर्थात् योग है।[12] इससे ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

* प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, एम0बी0राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल।

ज्ञान और भक्ति का महत्त्व बताने के साथ गीता का निहितार्थ स्पष्ट है कि कर्म मुख्य केन्द्र बिन्दु है। ज्ञान और भक्ति उसके सहायक साधन हैं। फलाकांक्षा के त्याग या निष्काम कर्म को श्रीकृष्ण ने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। योगदर्शन के शब्दों में ऐसा व्यक्ति दग्ध बीजभाव को पाता है अर्थात् जन्मादि बन्धनों के कारण को मानो नष्ट कर देता है।[13] अज्ञ और ज्ञानी के कर्मों में आसक्ति भाव का अन्तर है। ज्ञानी कर्त्तव्यबुद्धि से लोकसंग्रह के लिए कर्म करता है। लोकसंग्रह का अर्थ है संसार चक्र चलता रहे, इसमें कोई कमी न आए।[14] श्रीकृष्ण स्वयं को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्राप्त सर्वमनोरथ होने पर भी वह लोकसंग्रह हेतु कार्यरत हैं।[15] अतः निष्काम कर्म का अर्थ सत्त्वमुखी भाव से, कर्त्तव्यभाव से परहिताये यज्ञकर्म करना है। यज्ञ का आशय त्यागपूर्वक कर्म से है। लक्ष्य से प्रेम न कर लक्ष्य प्राप्ति के प्रयत्नों में निरत रहना चाहिए।

निष्काम कर्मी, कर्म करता हुआ भी अकर्मी है। जैसे प्रकाश देना सूरज का सहज धर्म है। स्वधर्म कर्त्तव्य है। कर्मों की यह निष्कामिता सभी के लिए है। रागासक्ति आदि जड़ों को समूल नष्ट करना ही मोक्ष का वास्तविक अर्थ है।[16] मूल तथ्य यह है कि कर्म के पीछे उसे करने की भावना प्राणी की कर्म प्रेरणा को संचालित करती है। उचितानुचित की व्याख्या का आधार भी व्यक्ति की भावना है। निष्काम कर्म हेतु अहंभाव का हटना आवश्यक है। वैसे भी यदि प्रकृति के तीनों गुण व्यक्ति से बलात् कार्य करवाते हैं तो अभिमान किस बात का? बाध्यता से उसमें नैतिक–अनैतिक के चयन की शक्ति कहाँ? किन्तु गीता की तात्त्विक संरचना के अनुसार मानव अन्तःकरण के निर्माण की दृष्टि से हर निम्नस्तर और उच्चस्तर से न केवल जुड़ा है अपितु नियन्त्रित भी है। इस कर्मोत्तरता के शीर्ष पर आत्मा है।[17] जो सभी निम्न स्तर प्रकृति को अपनी ओर उन्मुख रखता है। प्रकृति से भी उच्चस्तर तत्त्व मानव अन्तःकरण में है। इसका अर्थ है कि कर्म प्रेरकों में सुधार सम्भव है और मनुष्य प्रकृति से ऊपर उठकर नैतिक विकास को पा सकता है। अतः बुद्धि से श्रेष्ठ तत्त्व आत्मा होने से कामक्रोधादि अवरोधों[18] पर विजय पाकर मानव गुणातीत हो सकता है। कामादि को नियन्त्रित कर भी निष्काम अहं रहित कार्य सम्भव है। अहंभाव के हटते ही इन्द्रिय प्रेरित इच्छाओं का तनाव समाप्त हो जाता है।[19] बुद्धि को चित्त के निर्मल करने के लिए शुभ संकल्प वाला बनने के लिए भी अनेक प्रकार की चेष्टायें कही गयी हैं। जैसे– यज्ञ, दान, तप, मन्त्र, परोपकार, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि, सत्य, अहिंसा इत्यादि।[20] इस तरह शरीर के लिए अपेक्षित वेद वचनों के अनुपालन में कृत, सृष्टि नियम के लोकसंग्रह या संसार प्रक्रिया को चलते रहने देने वाले कर्म आदि विविध भेद हो जाते हैं।

मूलतः तो तीन तरह के कर्म कहे जा सकते हैं– अवश्यकरणीय नैतिक कर्म, विकर्म (अनैतिक या विपरीत कर्म), अकर्म (कर्मशून्यता, अनैच्छिक, नैतिकता या अनैतिकता से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है।)[21] योगवाशिष्ठ के अनुसार मन से संकल्पित कर्म ही असली नैतिक कर्म है न कि कायाकृत बाह्य कर्म। नैतिक कर्म वेदसम्मत है। गीता में इस कर्मविधान पर अत्यन्त जोर दिया गया है। इसका उल्लंघन करने वाले की निन्दा की गई है। कर्मों की शुद्ध नैतिकता का निर्धारण विवेक, परिस्थिति आदि पर निर्भर है जैसा कि आरम्भ में ही उल्लेख किया गया है।

श्रीकृष्ण ने कर्म के सम्बन्ध में इस तथ्य पर भी बल दिया है कि कर्ता में ईश्वरार्पण भाव भी होना चाहिए।[22] प्रेरणाभाव के परहितमूलक और अहंरहित होने से मानव की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति सम्भव है। ईश्वरार्पण का भाव अहंभाव का निषेधक है।[23] व्यक्ति स्वयं को निमित्त मात्र मानता है। इस तरह निष्काम कर्मयोग मनुष्य को स्वार्थ से उठाकर परार्थ की उस सीमा तक ले जाता है, जहाँ उसके संकल्प, भाव, ज्ञान सब ईश्वरीय हो जाते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार गीता हमें केवल कर्मों को कामनारहित होकर करना ही नहीं सिखाती है अपितु दैवी जीवन का अनुकरण करना, एकमात्र परम की शरण करना सिखाती है। इसका नीतिशास्त्र कर्म, ज्ञान और प्रेम पर आधारित है। राधाकृष्णन् के शब्दों में गीता में वर्णित निष्काम कर्म का सारा बल अभिप्रेरक की पवित्रता की अनन्त सम्भाव्यता पर है। हम आत्मा की शुद्धता के कारण, आसक्ति के अँधेरे को दूर करने में सक्षम हैं। लोकहित हेतु (कर्म के संसार चक्र की धुरी होने से) निःस्वार्थ भाव से अधिकतम प्राणियों के कल्याण हेतु कर्म करना ही है। ईश्वरार्पण बुद्धि से किए गए कर्म जीवनमरणक्लेशादि बन्धन नहीं मिलते, अन्ततः मोक्षप्राप्ति होती है।[24] गीता का आशय है कि जीवन का उन्नति या अवनति का सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि शरीर कहाँ है और क्या कर रहा है अपितु इस बात से है कि हमारी बुद्धि और भावनायें कहाँ हैं? क्या सोच उसके पीछे है। इसी से उसके स्तर का निर्धारण होता है। इसी से हमारा ह्रास–विकास, उत्थान–पतन, बन्धन–मोक्ष से सम्बन्धित है।

साधारणतः हमें कर्म के विषय में चार सिद्धान्त मिलते हैं– प्रथम– फल की इच्छा रखते हुए उसके लिए कर्म करना, द्वितीय– फल की आवश्यकता न होने के कारण इच्छा न रखते हुए कर्म, तृतीय– आलस्यवश न फल की इच्छा रखना न कर्म करना। चतुर्थ है– निष्काम भाव से कर्मों का सम्पादन करना। पहला सिद्धान्त कामनायुक्त होने से बन्धनजनक कहा जाता है। दूसरा निष्काम होने पर भी लोकनिर्वाह में असमर्थ है। तीसरा निन्द्य और हेय है। गीता का कहना है कि परिणाम की कामना न करो अपितु कर्म में रत रहो, अकर्म में कभी विश्वास न करो। यथार्थ में जीवन के अनुभवों का सार है कि कर्म करना ही मानव

के अधिकार क्षेत्र में है परिणाम तो प्रत्येक व्यक्ति मनोनुकूल ही चाहता है किन्तु परिणाम चुनने की स्वतंत्रता तो उसकी अधिकार सीमा में ही नहीं है।[25] हम सोचते हैं कि अच्छे काम का फल अच्छा होगा बुरे का बुरा किन्तु फिर भी परिणाम की अनुकूलता आश्वस्ति सदा सही ही तो नहीं होती। मानव मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो व्यक्ति बिना इच्छा और उद्देश्य के कार्य को लगन से कैसे करेगा? उसे कर्मप्रेरणा कैसे मिलेगी? यदि कर्म न करें तो संसार कैसे चलेगा? कर्म की अनिवार्यता को कौन अस्वीकार कर सकता है। बड़ी विचित्र बात है कि कर्म करें और परिणाम की कामना न रखें। सामान्यतः हम पहले ही लक्ष्य सम्मुख रख फल प्राप्ति की आशा में ही कार्य करते हैं। फल आशानुकूल मिल जाए जो समस्या नहीं है किन्तु ध्यातव्य है कि कहीं पुरूषार्थ में कमी हो गयी या किसी अन्य कारण से सफलता न मिले जबकि व्यक्ति ने अत्यन्त श्रम किया हो तो ऐसी स्थिति में वह अत्यन्त हताश हो जाएगा। सम्भवतः बहुत आशाएं रखने से मानसिक सन्तुलन भी खो दे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यदि हम कामनारहित होकर मात्र कर्त्तव्यबुद्धि से भी कार्य करें तो सफलता मिले तो ठीक ही है न मिले तो भी हम सामान्य ही बने रहेंगें।[26] मानसिक धक्का नहीं लगेगा। इसे हम इस आध्यात्मिक सिद्धान्त का सुखद व्यावहारिक परिणाम कह सकते हैं। गीताकार का आशय यह है कि व्यक्ति फलासक्ति रखे बिना भी अच्छे कार्य कर सकता है। लोकहित, भावों की शुभता, उद्देश्य की पवित्रता और निःस्वार्थता ऐसी वस्तु में है। जिनसे की गयी हिंसा नहीं है। असत्य, सत्य के समान ही महान् है। जैसे किसी अत्याचारी को मारना और हत्यारे के द्वारे किसी की जान बचाने के लिए बोला गया असत्य। वैसे भी व्यर्थ फल की चिन्ता न कर उसे करने में रत रहना उत्तम है।

कर्म में प्रवृत्ति कतई त्याज्य नहीं है। फलासक्ति से भी अधिक जघन्य है, घृणित है– कर्मत्याग।[27] कर्माभाव में जीवन–निर्वाह और सांसारिक व्यावहारिकता असम्भव है।[28] कर्म चेष्टा, जीवन और स्पन्दन का भावार्थ एक ही है। व्यक्ति में आलस्य और कार्य से विरक्ति कदापि नहीं होनी चाहिए। कर्म अनिवार्य है इससे कदापि मुक्ति सम्भव नहीं है क्योंकि निर्माणकारी सामग्री या तत्त्वों में ही त्रिगुणों की बाध्यता जुड़ी है।[29] प्राणी प्रकृतितः बाध्य है, बुद्धिसम्पन्न होने से हम उचितानुचित का विवेक कर सकते हैं और कर्मफल में परिवर्तन ला सकते हैं। अन्यथा प्राणी निरन्तर कर्मचक्र में ही घूमता रह जाएगा और कभी मुक्त न हो सकेगा। कर्मचक्र से हारकर स्वयं को त्रिगुणों की बाध्यता में नहीं फँसने देना है क्योंकि हमारे पास बुद्धि और सर्वोपरि शुद्ध आत्मा तत्त्व भी है। इस तरह व्यक्ति वर्तमान शुभ कर्मों से अतीत के बुरे कर्मों के संस्कारों तक को बदल सकने में सक्षम है। इसके लिए कैसे कार्य किए जाए इसका दिशा निर्देश गीताकार ने अत्यन्त स्पष्टता से किया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भगवद्गीता में कर्मवाद की सटीक व्याख्या है। परिस्थिति के अनुसार नैतिक–अनैतिक का विवेचन कर, निष्काम भाव से कर्म करना आध्यात्मिक, धार्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यक है। प्रत्येक पहलू से विचार निरीक्षण कर अनुभव होता है कि व्यक्ति पूर्ण आस्था से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह अवश्य करें। व्यक्ति लक्ष्य की लालसा रखे, फलाकांक्षा की कामना तीव्र हो, किन्तु परिणाम अनुकूल न हो तो वह हताश, निराश और कर्मविमुख हो जाएगा। मनोवैज्ञानिक समस्याएँ जैसे– पागलपन, उन्माद, अवसाद और मानसिक अनियन्त्रण हो सकता है। फलकामना को परे रखकर लोकहित के विस्तृत और पावन उद्देश्य को सामने रखे। यदि फल न मिले तो भी अपना काम करता रहे और फल प्राप्ति हो तो निरासक्त भाव से ग्रहण करें क्योंकि कार्य का कुछ न कुछ परिणाम तो मिलना ही है। प्राप्ति–अप्राप्ति, मान–अपमान, जय–पराजय, शीत–उष्णादि, विपरीत और अनुकूल सभी दशाओं में, समान भाव रखे। चित्त शुद्धि करने वाले व्रतादि शुभ कार्यों के प्रेरक हैं एवं सभी के ऐसा करने पर सामाजिक शान्ति के कारक भी हैं। मानव मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक समस्याओं का शिकार नहीं बनता। जीवन से पलायन आदि दुष्प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित नहीं होता एवं आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टि से पुनः जन्ममरण क्लेशादि बन्धनों में नहीं जकड़ता। इस तरह आत्मशुद्धि से कैवल्य/मोक्ष पा लेता है। हमारे धर्मग्रन्थ शाश्वत ज्ञान के असीम भण्डार हैं। इनमें विचारों, सत्यता या वास्तविकता का गहन मन्थन कर जीवन के महत् उद्देश्यों को निश्चित किया गया है। गीता में निहित कर्म में कुशलता अथवा कर्मयोग अत्यन्त मनोरम, तर्कसंगत ग्राह्य, प्रत्येक दृष्टि से परिपूर्ण एवं सटीक है।

सन्दर्भ

1. गीता, 1/29–40, 2/50, 2/3
2. गीता– 2/14, 15, 16
3. मनुस्मृति– 8, 335, महाभारत– शान्ति पर्व– 121–60, 55, 16, गीता– 2/16–25, 31–38
4. श्रीमद्भगवत्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, तिलक– पृ0 53
5. चलता है आदि प्रत्यय का विषय कर्म है। कुमारिल के मत में यह चलनात्मक प्रत्यक्ष है– शास्त्रदीपिका– पृ0 50, वैशेषिक सूत्र–1/1/17, न्यायकारिकावली– प्रत्यक्ष खण्ड– का0 6, योगसूत्र–4/7–8, व्यासभाष्य सहित, भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र– पृ0 440, 441।

6. गीता– 3/36–41, अभिधर्मकोष–4/1/7, सांख्यकारिका–1, प्रकरणपञ्चिका पृ0 156 तत्त्वार्थ सूत्र– 8/2, 3, शास्त्रदीपिका– पृ0 125, Indian Philosophy Vol. II, P, 623.
7. न्यायसूत्र–1/1/19, पर वात्स्यायत भाष्य, योगसूत्र– 3/37, 51, 4/11 (सभाष्य), 4/8 ब्रह्मसूत्र– 2/1/5 पर शाङ्कर भाष्य, शास्त्रदीपिका और प्रकरणपञ्चिका में अपूर्व विषयक मत।
8. आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् अनार्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसा सूत्र– 1/21
9. गीता– 3/10–16, 4/24–33
10. (क) गीता– 3/39
    (ख) न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
    हविशा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। – मनु0 2/94
11. गीता– 3/9, 19
12. वही– 5/6, 6/(1, 2)
13. दृष्टव्य– योगसूत्र
14. गीता– 3/20–24
15. वही 3/25
16. वही 18/47, 48, 49, सौन्दरनन्द– 16/28, 29, न्यायमंजरी पृ0 77..... –प्रशस्तपादभाष्य– पृ0 144, सांख्यकारिका–64, 65, शास्त्रदीपिका पृ0 125–30, भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय– पृ0 635
17. गीता– 7/5
18. (क) मुण्डक–2/2/8, 3/2/8, न्यायसूत्र–1/1/22, सांख्यसूत्र– 3/65, वैशेशिकसूत्र–5/2/18, 6/2/16, योगसूत्र– 2/25, 3/34, कठोपनिषद्– 2/3/14, श्रीभाष्य– 1/1/1, तत्त्वार्थ सूत्र– 10/2, 3
    (ख) प्राणीमन से सम्बद्ध होने से मनोविज्ञान और साहित्य में भी काम–क्रोध–मोह–लोभ, रति–अरति आदि को मूलप्रवृत्तियों, संवेगों और स्थायी भावों के रूप में स्वीकार किया गया है। संसारी जीवों से अनादिकाल से सम्बद्ध होने के कारण ही इन्हें प्राणियों की मूल प्रवृत्ति या स्थायी भाव कहा जाता है। पहले मोह लोभाहि कशाय फिर इनसे प्रेरित होकर की गई मानसिक–वाचिक–कायिक चेष्टायें सभी को मान्य हैं। दर्शनजगत् में ये सांसारिक आवागमन के कारणों के रूप में स्वीकृत हैं।
19. गीता– 3/43, 8/16, 17
20. गीता –8/9–13, 14, 15, 16, 4/39, तत्त्वार्थ सूत्र– 1/1, योगशास्त्र– 2/43, योगप्रदीप–113, धम्मपद– 14/5, वाक्यपदीप– 1/9, 14, 16, काशिका– 3/1/48, न्यायसूत्र– 4/2/46, 47, वैशेशिक सूत्र– 6/2/1, 10, 16, सांख्यकारिका– 64, 67, योगसूत्र– 2/26, गीताभाष्य– 18/10, वृहदारण्यकोपनिषद– 2/4/5 (आत्मा वा अरे दृष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः), विज्ञानदीपिका– श्लोक–22 इत्यादि।
21. गीता– 4/16– 23
22. वही– 8/7, 18/46
23. वही– 4/9, 4/14, 18/53
24. यत्करोशि यदश्नासि यज्जुहोशि ददासि यत्।
    यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूश्वमदर्पणम्।।
    शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
    सन्यास योगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैश्यसि।। गीता– 9/27, 28
25. गीता – 2/47, 18/14–16, गीता रहस्य–प्र0 5, पृ0 115, प्र0 12
26. वही– 2/48, 49, 50, 2/56
27. गीता– 2/47, 3/8, 16, 17, 19, 2/51, 53, 18/7–9, 10, 11
28. वही–5/2, 3/8
29. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिश्ठत्यकर्मकृत।
    कार्य ते ह्यवशः कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणैः।। – गीता– 3/5